ISSN 2348-4977 Visvabharati Patrika

विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

खण्ड ७६
अंक १

चैत्र २०७७ - ज्येष्ठ २०७७
अप्रैल २०२० - जून २०२०

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ७६ अंक १ चैत्र २०७७ - ज्येष्ठ २०७७, अप्रैल २०२० - जून २०२०

विषय-सूची

इस अंक के लेखक		५
कहानी में पाठक, पाठ और प्रशिक्षु पाठ-प्रक्रिया की युक्तियाँ	*पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'*	९
लोक का साहित्य	*सूर्यकांत त्रिपाठी*	२०
इक्कीसवीं शताब्दी की हिंदी कविता में महानगरीय बोध	*भारती गोरे*	३१
सुमित्रानन्दन पन्त का सौन्दर्यबोध	*स्मिता जैन*	४४
पूर्वोत्तर की हिन्दी कविता : एक अंतर्यात्रा	*रीतामणि वैश्य*	५१
मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में लोकगीत	*रत्ना शर्मा*	६०
नंदकिशोर आचार्य के नाटकों में कथ्यबोध	*लहरी राम मीणा*	७०
मृदुला गर्ग के उपन्यासों में महिला सशक्तीकरण	*मनीषा पाण्डेय*	८१
रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की भाषा	*कुसुम कुंज मालाकार*	८७
आधुनिक संताली कविता	*दुखिया मुर्मू*	९४
महामति प्राणनाथ : भाषायी एकता की तलाश	*प्रमोद कुमार शर्मा*	९९
धूमिल : अदम्य सर्जनात्मकता	*भैरव सिंह*	१०६
अज्ञेय के काव्य में प्राच्य प्रभाव	*प्रभात कुमार 'प्रभाकर'*	१२०

लोक का साहित्य

सूर्यकांत त्रिपाठी

'लोक' शब्द की निष्पत्ति संस्कृत के 'लोकदर्शने' धातु में 'घञ' के योग से होती है।[१] इस धातु का अर्थ है देखना जिसका लट्लकार के अन्य पुरुष के एकवचन का रूप 'लोकते' है। इसलिए लोक शब्द का अर्थ देखने वाला हुआ। इस प्रकार वह संपूर्ण जनसमुदाय जो इस कार्य करता है, लोक की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसी लोक शब्द से ही हिंदी के लोग शब्द की व्युत्पत्ति भी मानी जाती है और इसका तात्पर्य सर्वसाधारण जनता से लिया जाता है, इस प्रकार लोक शब्द का अभिप्राय उस समग्र जनसमुदाय से है जो किसी देश में निवास करता है।

ऋग्वेद में आए 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का अर्थ है स्थान। अथर्ववेद तथा ऋग्वेद दो प्रकार के लोक की बात स्पष्ट करते हैं।[२] लेकिन ब्राह्मण ग्रंथों, वृहदारण्यक और वाजसनेयि-संहिता में किसी प्रकार की भेदात्मक स्थिति का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है।

अशोक के शिलोलेखों में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का अर्थ प्रजाजन के हित में किया गया है।[३] बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ 'लोक' शब्द के अर्थ की प्रतीति मानवमात्र के भावों के रूप में हुई। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त 'लोकजत्ता' (लोक-यात्रा) 'लोअप्पवाय' (लोक प्रवाद) प्रभृति शब्द लौकिक नियमों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

'लोक' शब्द के अर्थ के संदर्भ में डॉ. विद्यानिवास मिश्र का विचार भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो निम्नवत् द्रष्टव्य है–

'इसके विपरीत लोक शब्द के अर्थ जगत् पर विचारते हैं तो यह मिलता है कि यह शब्द 'लोक' धातु अर्थात् देखने के अर्थ में प्रयुक्त धातु से निष्पन्न है। लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगह है और उसके बाद उसका अर्थ मुक्त विचरण भी है, इसी कारण विकसित अर्थ है पूरा विश्व जो तीन या सात या चौदह लोकों में विभक्त है। उत्तर वैदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ हुआ पृथ्वीलोक और उसके निवासी, या फिर उसका अर्थ सामान्य जीवन, सामान्य भाषा हुआ। लौकिक का अर्थ इंद्रियगोचर जीवन से संबद्ध हुआ। लोक के योग से अर्थ निष्पन्न हुए जिनमें लोकगीत– लोकगाथा, लोकचारित्र्य, लोकाचार, लोकतंत्र, लोकधर्म, लोक-प्रसिद्धि, लोक-मात्रिका, लोक-मार्ग, लोक-यात्रा, लोक-रंजन,

विश्व हिंदी पत्रिका

2020

प्रधान संपादक
प्रो. विनोद कुमार मिश्र

संपादक
डॉ. माधुरी रामधारी

विश्व हिंदी सचिवालय
इंडिपेंडेंस स्ट्रीट, फ़ेनिक्स 73423,
मॉरीशस

World Hindi Secretariat
Independence Street, Phoenix 73423,
Mauritius

info@vishwahindi.com
वेबसाइट / Website : www.vishwahindi.com
फ़ोन / Phone : +230-6600800

ISSN No. : 1694-2477

सहायक संपादक
श्रीमती श्रद्धांजलि हजगैबी-बिहारी

संपादन सहयोग
डॉ. वेद रमण पांडेय
आई.सी.सी.आर., हिंदी पीठ, महात्मा गांधी संस्थान, मॉरीशस

टंकण टीम
श्रीमती विजया सरजु, श्रीमती त्रिशिला आपेगाडु,
श्रीमती जयश्री सिबालक-रामसर्न, सुश्री निधि रामबर्न

निवेदन

विश्व हिंदी पत्रिका में प्रकाशित लेखों के विचार लेखकों के अपने है।
विश्व हिंदी सचिवालय और संपादक मंडल का उनके विचारों से सहमत होना
आवश्यक नही है।

पृष्ठ सज्जा
आर. एस. प्रिंट्स

**स्टार पब्लिकेशंस प्रा. लि., 4/5 बी, आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-110002 (भारत) द्वारा प्रकाशित**

हिंदी : विविध आयाम

22. हिंदी के प्रसार में कनाडा की हिंदू इंस्टीट्यूट का योगदान - डॉ. रत्नाकर नराले 114
23. असम में हिंदी का विस्तार : एक अनुशीलन - श्री जैनेंद्र चौहान 119
24. समय और सच की भाषा हिंदी - अजित्रा आर. एस. 123
25. पूर्वोत्तर भारत के सांस्कृतिक समन्वय में हिंदी - संगीता कुमारी पासी 128
26. भारतीय तथा वैश्विक पटल पर हिंदी में रोज़गार की संभावनाएँ - डॉ. पद्माकर पांडुरंग घोरपड़े 134
27. फ़िजी हिंदी साहित्य सृजन : प्रो. सुब्रमनी के औपन्यासिक कृतियों का अवलोकन - श्रीमती सुभाषिनी एस. लता 139
28. न्यायपालिका और हिंदी : अवरोध और चुनौतियाँ - प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी 144

हिंदी के पथप्रदर्शक

29. उपनिवेशों में हिंदी भाषा के प्रथम प्रचारक : आर्य समाजी भाई परमानंद - डॉ. राकेश कुमार दूबे 151
30. गांधी : लेखकों के लेखक - डॉ. कमल किशोर गोयनका 155
31. हिंदी, प्रादेशिक भाषाएँ और दीनदयाल उपाध्याय की दृष्टि - श्री उमेश चतुर्वेदी 159
32. पंडित विद्यानिवास मिश्र के निबंधों की भाषिक बनावट-बुनावट - प्रो.(डॉ.) सूर्यकांत त्रिपाठी 163
33. महात्मा गांधी और मॉरिशस : एक अटूट संबंध - डॉ नूतन पाण्डेय 171
34. 'गोदान' की हस्तलिखित पांडुलिपि - आभार : डॉ. कमल किशोर गोयनका 182

हिंदी : आज के प्रश्न

35. अंग्रेज़ी के कारण ही आज हिंदी की उपेक्षा हो रही है - श्री गोवर्धन यादव 184
36. क्या वैश्वीकरण ने सचमुच हिंदी को कुछ दिया है - श्री संजय कुमार 189
37. हिंदी भाषा पर अंग्रेज़ी का वर्चस्व - डॉ. काजल पाण्डेय 195

श्रद्धांजलि

38. आचार्य नंदकिशोर नवल का आलोचना कर्म - डॉ. अभिषेक शर्मा 199
39. प्रवासी लेखन का असमंजस और सुषम बेदी का साहित्य - रेखा सेठी 202
40. गिरिराज किशोर : मानवीय सरोकार के अप्रतिम रचनाकार - प्रो. विनोद कुमार मिश्र 207

पंडित विद्यानिवास मिश्र के निबंधों की भाषिक बनावट-बुनावट

– प्रो. (डॉ.) सूर्यकांत त्रिपाठी
असम, भारत

भाव और विचारों के प्रकटन का साधन भाषा है। वह बाहरी दुनिया में मनुष्य की गतिविधियों का माध्यम भी है। इसी हेतु उसका संप्रेषण यथोचित होना चाहिए, जिससे पाठक या श्रोता को भाव ग्रहण करने में सहूलियत हो। यहाँ वक्ता या लेखक का यह दायित्व हो जाता है कि वह सहज, सुबोध और संप्रेषणीय भाषा का इस ढंग से प्रयोग करे कि उसके पाठक या श्रोता उसके भावों या विचारों को उपयुक्त अर्थ में ग्रहण कर सकें। इसी बात को विंसेंट और ब्रुक्स ने इस रूप में प्रकट किया है – "कवि अनिवार्यतः अर्थान्वेषण की प्रक्रिया में भाषा की दर्जीनुमा सिलाई करता है।"[1] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भाषा जीवन के हर क्षेत्र में विभिन्न दायित्वों का निर्वाह करती है और वह सदैव उसके साथ रहती है, न केवल वाणी में, बल्कि उसके विचारों एवं स्वप्नों में भी। मनुष्य का भाषा से इतना निकट का जुड़ाव है कि भाषा उसे स्वयं अलग प्रतीत नहीं होती, तभी तो महान दार्शनिक डेकार्त भी अपना अस्तित्व अपनी चिंतन प्रक्रिया पर ही निर्भर पाता है – "मैं सोचता हूँ, इसीलिए मैं हूँ। भारतीय मनीषा भी इसी बात की इस रूप में पुष्टि करती है – 'मनुते इति मनुष्यः'। (चिंतन करने वाला प्राणी ही मनुष्य है।)"

पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार, "भाषा स्थिर न होकर सर्जनात्मक मानवीय प्रक्रिया के रूप में आगे बढ़ती रहती है। जहाँ तक सिद्ध वस्तु के रूप में भाषा के विश्लेषण की बात है, वह सामान्य व्याकरण या सामान्य भाषाशास्त्र के अंतर्गत लाई जा सकती है, किंतु जहाँ नियमों की परिधि के विस्तार की बातें आती हैं या पूर्व निश्चित संकेतों के द्वारा द्योतित अर्थों या दूसरे शब्दों में अभिधेय संदेशों की परिधि के बाहर जाकर अभिधेयतर या वाच्येतर नवसर्जित संदर्भ के उन्मीलन का प्रश्न उठता है, वहाँ भाषा का एक अतिरिक्त प्रयोजन जुड़ जाता है।"[2] इसी संदर्भ को लक्ष्य कर पंडित जी ने दूसरी जगह उद्धृत किया है – "साहित्य का उद्देश्य सामाजिक संप्रेषण है। इस विषय में कोई भी मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य का माध्यम भाषा है और भाषा समाज की देन है।"[3] इस रूप में साहित्य का माध्यम भाषा है और "भाषा समाज को परिभाषित करने वाला उसका एक मुख्य अभिलक्षण है, भाषा समाज के समस्त व्यवहार का प्रकृष्ट साधन भी है। इससे भी आगे जाकर यह कहा जा सकता है कि समाज और भाषा एक–दूसरे के बिना कोई अस्तित्व नहीं रखते।"[4] और ऐसी स्थिति में ही "भाषा जीवन की संवेदना से घुलमिल भाषा होगी। वह एक कदम आगे ले जाने वाली होगी। उसकी लय ऐसी बरबस मोहक लय होगी, आधी परिचित होगी, आधी अपरिचित और इसीलिए आदमी को अनायास आगे खींच ले जाने में समर्थ होगी।"[5]

भाषा कोई वस्तु नहीं, बल्कि वह एक प्रक्रिया है। किसी की सत्ता उसके बोलने वालों से अलग नहीं रहती। इसे यूँ कहें, तो प्रत्येक भाषा के विषय में कोई कथन वस्तुतः उस भाषा के बोलने वालों पर लागू होता है। यह सच है कि भाषा का आधार कोई–न–कोई बोली ही होती है, किंतु अपने विकास और विस्तार की प्रक्रिया में वह सब बोलियों का महत्तम समापवर्तक होती है। एक की होकर भी वह सबकी हो जाती है। सबके समन्वय–योगदान और सम्मिश्रण से उसमें भाषापन आता है, क्योंकि बोलियों के संघटन से ही भाषा बनती है और भाषा के विघटन से बोलियाँ बनती हैं। इस संदर्भ में डॉ. हरदेव बाहरी का यह कथन द्रष्टव्य है – "सामान्यतया साहित्यकार की अपनी बोली की पुट उसकी साहित्यिक भाषा में अवश्य रहती है। कबीर में भोजपुरी, नानक में पंजाबी, दादू में जयपुरी, मीरा में मारवाड़ी एवं केशव में बुंदेली शब्द और प्रयोग है ही। उस युग में बोलियों का व्यवहार साहित्य में निःसंकोच रूप से होता था। आज भी खड़ी बोली हिंदी साहित्य में साहित्यकार की जनपदीय बोली यत्र–तत्र अवश्य उभर